नई तालीम, आज: कुछ समस्याएँ और सम्भावनाएँ

सुजीत सिन्हा

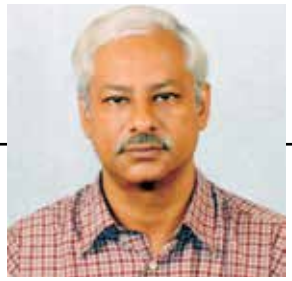

स्कूल और समाज

गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए हमें डुवी के निम्नलिखित उद्धरण को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना जरूरी है : *"यदि हमें यह पता हो कि हम किस तरह का समाज चाहते हैं, तो हम यह भी जान जाएँगे कि हमें कैसी शिक्षा प्रदान करना होगा।"*

आदर्श समाज की गाँधी की कल्पना को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं : उसमें अधिकांश लोग गाँवों में रहेंगे, वे खेती में या कुटीर उद्योगों में काम करेंगे जो या तो पारिवारिक स्वामित्व वाले होंगे या जिनका स्वामित्व और प्रबन्धन सहकारिता के आधार पर होगा। सभी प्रकार के कामों का समान दर्जा होगा। उस समाज में उच्च स्तर की ग्रामीण और क्षेत्रीय आत्म–निर्भरता होगी, जिसमें बहुत ही कम वस्तुओं को लम्बी दूरियाँ तय करके लाना या ले जाना पड़ेगा। गाँव राजनैतिक रूप से स्वायत्त होंगे और प्रत्यक्ष भागीदारी वाली लोकतांत्रिक पद्धति से स्वयं अपने अधिकांश निर्णय लेने में समर्थ होंगे। बहुत हद तक वह न्यायपूर्ण और पक्षपात रहित होगा और उसमें सभी प्रकार का प्रभुत्व और भेदभाव घट जाएगा। हर व्यक्ति पर्यावरण के प्रति जागरूक (ईको–लिटरेट) होगा, उपभोग के चार–सूत्री सिद्धान्त (चार आर – रिडयूस, रियूज, रिसाइकिल, रिजेनरेट – अर्थात वस्तुओं के उपभोग को घटाना, उनको पुन: इस्तेमाल करना, उत्पादन प्रक्रिया में उनका री–सायक्लिंग करना और उन्हें फिर से उत्पन्न करना) का आचरण में पालन करेगा, और इस गाँधीवादी सूक्ति के अनुसार जीवनयापन करेगा कि 'संसार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त है, परन्तु उसके लालच के लिए नहीं', और सम्पत्ति पर केवल ऐसी सीमाओं तथा निष्पक्षता के द्वारा ही ईर्ष्या और संघर्ष को घटाया जा सकेगा, जिसके परिणामस्वरूप शान्ति और सत्य की स्थापना होगी, जो कि दो परम गाँधीवादी आदर्श हैं।

उपरोक्त कल्पना को साकार करने के लिए प्रयुक्त गाँधी के प्रमुख उपकरणों में से एक थी नई तालीम या नई शिक्षा, जिसका केन्द्रीय शैक्षणिक औजार प्रायोगिक उत्पादक कार्य था। ऊपर वर्णित इस कल्पना के अनुसार निष्पक्षता, न्याय और प्राकृतिक संसाधनों को निरन्तर बनाए रखने की समस्यायों के समाधान के लिए जुटना, इसके पाठ्यक्रम के प्रमुख सरोकार थे।

क्या 1940 से लेकर 1970 के दशक तक, किसी भी प्रगतिशील व्यक्ति ने ऐसे 'पीछे की ओर' देखने वाले आदर्शों पर विश्वास किया होता? अधिकांश लोगों की आस्था इसके ठीक विपरीत थी। संसार के साथ भारत भी उत्साहपूर्वक औद्योगीकरण के घोड़े पर सवार हो गया। लगभग समस्त प्रगतिशील चिन्तन इस बारे में था कि इस घोड़े को किस प्रकार तेज से तेज गति से दौड़ाया जाए। प्रमुख विचार–विमर्श इस बात पर होता था कि इसे हासिल करने का कारगर उपाय मानवीय चेहरे वाला पूँजीवाद होगा या कि समाजवाद–साम्यवाद का कोई संस्करण, या फिर दोनों का कोई जादुई मिश्रण।

उद्योगवाद की बुनियादी प्रवृत्तियों को हम सरलीकृत ढंग से इस तरह व्यक्त कर सकते हैं : उस पर आधारित समाज में अधिकांश लोग शहरों और नगरों में रहेंगे, बड़े कारखानों और दफ्तरों में काम करेंगे जिन पर विशाल निगमित कम्पनियों या सरकार का स्वामित्व होगा। अपरिहार्य रूप से कार्य और पदों के दर्जों में बहुत बड़े अन्तर होंगे। हर चीज दूसरी चीजों से जुड़ी होगी : विराट पैमाने पर परिवहन का उपयोग करते हुए, वस्तुओं और सेवाओं को लम्बी दूरियों तक वितरित किया जाएगा और बेचा जाएगा। अधिकांश निर्णय राष्ट्र–राज्यों के द्वारा प्रतिनिधित्व–आधारित लोकतंत्र के माध्यम से किए जाएँगे। सतत ऊपर की ओर उन्मुख गतिशीलता, निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक सम्पदा, लालच और ईर्ष्या – ये ही मनुष्य को प्रेरित करने वाली मुख्य शक्तियाँ होंगी। इसलिए, प्रकृति पर हावी होना और उससे जितनी सम्भव हो उतनी तेज गति

से अधिक से अधिक संसाधन निकालना, यही मानवीय ज्ञान का और राजनैतिक–सामाजिक व्यवस्थाओं का मुख्य कार्य होगा।

इस लक्ष्य को एक ऐसी मानकीकृत स्कूली शिक्षा व्यवस्था की सहायता से हासिल किया गया जिसके पाठ्यक्रम की पद्धति 'जो बहुत गोपनीय नहीं थी' हर विद्यार्थी में सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से ऊपर की ओर उठने की और असीमित भौतिक सम्पदा अर्जित करने की अभीप्सा को निरन्तर जगाने की थी, ताकि उद्योगवाद के बढ़ते कदमों को और अधिक गति दी जा सके। यह स्कूली व्यवस्था कमोबेश सारे संसार में फैल गई है और एक अर्थ में यह काफी सफल भी हुई है। अब उन लोगों ने भी जिनकी स्कूली उपलब्धियाँ साफ तौर पर काफी निम्न स्तरीय या अधूरी रही हैं, और उन्होंने भी जिनकी इस स्कूली शिक्षा तक समुचित पहुँच नहीं है, ऊपर उल्लिखित इस केन्द्रीय लक्ष्य को पूरी तरह से आत्मसात कर लिया है। पाठकों को देखना चाहिए कि दिसम्बर 2011 में गुजरात विद्यापीठ में अनिल सद्गोपाल के द्वारा नई तालीम पर दिए गए व्याख्यानों की अपनी प्रस्तावना में श्री नारायण देसाई इसे कितने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं: (www.youtube.com/watch/?v=2_rgDaARGgk)

"1980 के दशक से उत्तरोत्तर अधिक लोगों को यह ज्यादा स्पष्ट होता जा रहा है कि उद्योगवाद का यह घोड़ा जिस पर हम सवार हैं अब नियंत्रण के बाहर हो गया है, जिसके कारण (मानव) जीवन के बचे रहने पर भी खतरा मँडराने लगा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम इसे किसी भी मनचाही दिशा में नहीं मोड़ सकते, न ही धीमा कर सकते हैं और हम उससे उतरने में भी असमर्थ हैं। हम तेजी से एक गहरी खाई की कगार के नजदीक पहुँच रहे हैं। इस (आसन्न संकट) से बचने के लिए क्या किया जा सकता है, किसे इसका 'दोष' स्वीकार करना चाहिए और इसके समाधान की 'लागत' वहन करना चाहिए, यह समझने के लिए 1980 के दशक के बाद से लगभग सभी देश मिल–बैठकर बातचीत करते रहे हैं। जहाँ इस बदहवास ढंग से भाग रहे घोड़े को नियंत्रित करने के लिए कुछ अच्छे कदम उठाए गए हैं, वहीं बहुत से लोग मानते हैं कि वे प्रयास बहुत थोड़े हैं और शायद बहुत देर से किए गए हैं। लेकिन अभी भी बहुसंख्यक लोग इस उम्मीद के सहारे यथावत चले जा रहे हैं कि किसी तरह से वे इस संकट से प्रभावित होने से बच जाएँगे या कि यह संकट वास्तव में है ही नहीं, या कि वह उतना भीषण नहीं है जितना उसे अनेक लोग बता रहे हैं, या कि वह किसी जादू से विलीन हो जाएगा। हो सकता है कि इस दिशा में तत्परता से सक्रिय होने के लिए संसार को उसी प्रकार के किसी आघात की जरूरत है जैसा कि 7 जून 1893 को गाँधी को पीटरमेरिट्जबर्ग रेलवे स्टेशन पर मिला था जब उन्हें रेलगाड़ी से बाहर धकेल दिया गया था।"

एकबारगी जब भारत ने संसार के 'सफल' औद्योगिक देशों के समकक्ष पहुँचने की इस यात्रा पर कूच करने का, और इस तरह मूलभूत दृष्टिकोणों से, गाँधी ने जो कल्पना की थी उसके ठीक विपरीत करने का निर्णय ले लिया, तो नई तालीम की मानो मौत सुनिश्चित हो गई। इसको लेकर कुछ विश्लेषण हुए हैं कि किस तरह नई तालीम का पाठ्यक्रम उपयुक्त तरीके से नहीं रचा गया था, कि कैसे उसमें बहुत सीमित 'गतिविधियाँ' चुनी गई थीं, कि विषयों का कार्य–गतिविधियों से 'पारस्परिक सम्बन्ध बनाना' कितना कठिन था, कि स्कूल की दिनचर्या कितनी कठोरतापूर्वक बँधी हुई थी, कि 'शिक्षकों' को प्रशिक्षित करना कितना मुश्किल था (और वास्तव में बहुत थोड़े शिक्षकों को प्रशिक्षित किया गया) और सरकारी सहायक व्यवस्थाएँ कितनी गैर–मददगार थीं आदि। उपरोक्त सभी बातें महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन मेरा विश्वास है कि यदि ये सभी चीजें यथोचित ढंग से भी की गई होतीं (और वे गुजरात तथा देश के कुछ अन्य भागों में काफी अच्छी तरह से की भी गई थीं), तो भी एकबारगी जब हमें उद्योगवाद की लत लग गई थी, तब नई तालीम का ढह जाना अवश्यंभावी हो गया था, वह अधिक से अधिक उससे एक दशक ज्यादा टिकती जितनी कि वह वास्तव में चली।

भारत सहित सारे संसार में, उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोगों को लगने लगा है कि 20वीं सदी के उद्योगवाद का दौर अब समाप्त होने को है। अधिकाधिक लोग अब गम्भीरतापूर्वक उसके राजनैतिक, आर्थिक, प्रौद्योगिक और सांस्कृतिक विकल्पों की तलाश करने लगे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधी के अनेक विचारों, जिनमें नई तालीम भी शामिल है, के फिर से पुनर्जीवन का अवसर मिल रहा है। निश्चित ही, आज की और आने वाले कल की समस्यायों और आवश्यकताओं के अनुरूप, इन विचारों की पुर्नव्याख्या की जानी पड़ेगी, जैसी कि गाँधी ने उन्हें विरासत में मिले अनेक विचारों और अवधारणाओं की इतने प्रतिभाशाली ढंग से की थी।

नीचे के अनुच्छेदों में हम इस पुनर्जीवित हो रही भविष्य की नई तालीम की केवल कुछ ही समस्याओं की, कुछ सम्भावित रूपरेखाओं की और कुछ चुनौतियों की चर्चा करेंगे।

ग्रामीण–शहरी

हाल के बहुत से लेखन में इसकी बात की गई है कि किस तरह भारत में शहरीकरण की गति न सिर्फ पहले की तरह जारी रहेगी, बल्कि और भी तेज होगी। विभिन्न अध्ययन यह दर्शाते हैं कि किस प्रकार ग्रामीण युवा और उनके माता–पिता खेती के काम और उसकी सहायक गतिविधियों को जारी रखने के इच्छुक नहीं हैं। इसलिए, भविष्य में (30-40 साल बाद) भारत में गाँव बस सन्दर्भ–टिप्पणियाँ बनकर रह जाएँगे, ठीक वैसे ही जैसे कि संसार में औद्योगीकरण का चक्र चलने के बाद पहली दुनिया के देशों में हुआ है। परन्तु ऐसा परिदृश्य शायद भविष्य को अतीत के आधार पर बहुत ही सरलीकृत ढंग से एक सीधी रेखा में चित्रित करने जैसा है। दूसरी ओर, यदि हम मानते हैं कि 20वीं सदी के उद्योगवाद के विकल्पों की खोज की गति तेज होगी, तो फिर हो सकता है कि गाँवों को रहने और काम करने के वांछित स्थान बनाना अधिकाधिक रूप से मुख्यधारा का कार्य बन जाए।

हालाँकि शहरों के बारे में अच्छा कहने के लिए गाँधी के पास ज्यादा कुछ नहीं है, परन्तु यह देखना शिक्षाप्रद होगा कि टैगोर ने किस प्रकार शहर–गाँव के ऐसे सामंजस्यपूर्ण सह–अस्तित्व की बात की है, जो उनके अनुसार उद्योगवाद की असीमित भौतिक सम्पदा की तलाश के कारण टूट गया था। अपनी काव्यात्मक भाषा में ऐसे सह–अस्तित्व की सम्भावना का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

"इस पृथ्वी पर धाराएँ, झीलें और महासागर हैं। उनका अस्तित्व मात्र उनके अपने दायरों में पानी को जमा रखने भर के लिए नहीं होता। वे वाष्प को ऊपर भेजते हैं जिससे बादल निर्मित होते हैं और पानी के अधिक विस्तृत वितरण में सहायता मिलती है। शहरों के भी अपने काम हैं – सम्पदा और ज्ञान को वैभव के घनीभूत रूपों में बनाए रखना – परन्तु यह भी खुद उनकी खातिर नहीं होना चाहिए; वे एक प्रकार से (धन और ज्ञान की) सिंचाई के केन्द्र होना चाहिए; उन्हें इनका संग्रह वितरित करने के लिए करना चाहिए। उन्हें स्वयं को ही विशाल नहीं बनाना चाहिए, बल्कि समस्त प्रजा को समृद्ध बनाना चाहिए। उन्हें दीप–स्तम्भों की भाँति होना चाहिए और जिस प्रकाश का वे आधार होते हैं उसका उनकी अपनी सीमाओं के पार फैलना बेहद जरूरी है।

शहर और गाँव के बीच ऐसा पारस्परिक हितकारी सम्बन्ध तभी तक मजबूत बना रह सकता है जब तक सहयोग और आत्म–बलिदान की भावना समाज का जीवन्त आदर्श बनी रहती है। जब कोई सार्वभौमिक प्रलोभन इस आदर्श पर हावी हो जाता है, जब कोई स्वार्थी लालसा प्रबल हो जाती है, तब उनके बीच एक खाई निर्मित हो जाती है और वह निरन्तर बढ़ती जाती है।" ('सिटी एण्ड विलेज – शहर और गाँव', टैगोर की अँग्रेजी रचनाएँ, साहित्य अकादमी)

अकसर जब नई तालीम की चर्चा होती है, तो यह मान लिया जाता है कि यह कुछ ऐसी चीज है जो गाँवों पर तो लागू होती है, पर जिसका शहरों से बहुत कम लेना–देना है। लेकिन अब यह बात साफ हो गई है कि शहर संसार का आधा यथार्थ हैं और आने वाले कुछ वर्षों तक वे और भी फैलेंगे। संसार भर में ऐसे कई शहर हैं जिन्होंने संसाधनों को बनाए रखने के लिए अभिनव प्रयास आरम्भ कर दिए हैं। वे अपने कार्बन डाई आक्साइड के उत्सर्जन की मात्रा को न्यायोचित ढंग से कम करने की कोशिश कर रहे हैं। ब्राजील में क्यूरीटीबा जैसे कुछ शहर पास–पड़ोस के गाँवों को उस तरह से 'सिंचित करने' का भी प्रयास कर रहे हैं जिसका सपना टैगोर ने देखा था। इसलिए आज की नई तालीम को ग्रामीण और शहरी, दोनों क्षेत्रों के लिए उपयोगी होना होगा और उसे इस शहरी–ग्रामीण संतुलन और सामंजस्य को स्थापित करने के लिए भी प्रयास करना होगा।

कोई भी खेती करना और गाँवों में रहना नहीं चाहता

अगस्त 2014 में मैं अपने एक सहकर्मी के साथ मध्य प्रदेश के एक उत्तर–पश्चिमी जिले में गया था, जहाँ विस्थापित वनवासियों, जिनमें आदिवासी और गैर–आदिवासी दोनों प्रकार के लोग हैं, में से प्रत्येक को 2 हेक्टेयर भूमि दी गई है। नए गाँव स्थापित किए गए हैं। हर गाँव में सरकारी स्कूल खोले गए हैं। उनमें से एक मध्यवर्ती गाँव में एक गैर–सरकारी संस्था द्वारा संचालित कक्षा 12 तक का एक श्रेष्ठ स्कूल है। यह बात काफी चकित करने वाली थी कि उस गाँव में अगस्त में केवल थोड़ी–सी भूमि ही जोती गई थी, अधिकांश भूमि पर खेती नहीं हो रही थी। प्रत्येक 2

हेक्टेयर भूमि के टुकड़े पर एक–दो अच्छे दिखने वाले पेड़ लगे थे। जब मेरे साथी ने कक्षा 10 के विद्यार्थियों से उनके भविष्य के बारे में बात की, तो उन्होंने कहा कि वे कक्षा 11-12 की पढ़ाई करेंगे, फिर वे कालेज पढ़ने जाएँगे, फिर उसके बाद कुछ नहीं! उन्होंने यह भी कहा कि वे अच्छी तरह यह जानते थे कि 'नौकरियाँ' ज्यादा से ज्यादा 10 लोगों में से सिर्फ एक के लिए ही उपलब्ध थीं। दिलचस्प बात है कि मध्य प्रदेश में 11वीं–12वीं में 'कृषि' विषय की शाखा भी है और इस स्कूल के सभी विद्यार्थियों ने उसे ही चुना था क्योंकि उस विषय में पास होना सबसे आसान था। हमें पता चला, जैसी कि हमें उम्मीद थी, कि इसका वास्तविक खेती से कोई लेना–देना नहीं था या इसके पीछे यह तरकीब थी कि विद्यार्थियों को सबसे सरल सम्भावित प्रश्न याद करवा दिए जाएँ, ताकि वे किसी प्रकार कक्षा 12 पास करने का जतन कर लें। कल्पना कीजिए कि वहाँ सबके पास 2 हेक्टेयर भूमि बेकार पड़ी थी!!!

भारत सरकार के आँकड़ों के अनुसार, जिस 14 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर खेती होती है, उसमें से केवल 5.5 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर ही एक से अधिक फसलें ली जाती हैं। इसका मतलब है कि 8.5 करोड़ हेक्टेयर भूमि पर केवल एक ही फसल उगाई जाती है! प्रसंगवश, ऐसे इलाके अकसर भारत के सबसे गरीब और खस्ताहाल क्षेत्र हैं। आज भारत के कृषि की जलवायु वाले लगभग सभी भौगोलिक क्षेत्रों के लिए ऐसे पर्याप्त प्रतिरूप उपलब्ध हैं जो दिखाते हैं कि 'विकसित वैज्ञानिक और पर्यावरण संगत' पद्धतियों से ऐसी जमीनों का कुल जैविक–उत्पादन 2 से 3 गुना बढ़ाया जा सकता है। गौर करें कि यहाँ 'जैविक' का तात्पर्य केवल खाद्य फसलों से ही नहीं है, उसमें ईंधन, रेशे, चारा, खादें, लकड़ी, पशु, मछलियाँ तथा पेड़ों से प्राप्त होने वाला अन्य लघु उत्पादन भी शामिल हैं। यह आकलन उस तरीके से बहुत भिन्न है जिस तरह औद्योगिक कृषि में उत्पादन को नापा जाता है। पिछले पैरा में जिस भौगोलिक क्षेत्र का उल्लेख किया गया था, उसमें भी वहाँ स्कूल चलाने वाले उसी गैर–सरकारी संगठन ने यह करके दिखाया है कि उचित जल–संग्रहण और समेकित खेती की पद्धति का उपयोग करके 2 हेक्टेयर भूमि भी एक परिवार को काफी सम्पन्न बना सकती है।

इस सन्दर्भ में, यह देखना उपयोगी होगा कि सिर्फ 20–25 वर्ष पहले क्यूबा में क्या हुआ। 1989 में सोवियत संघ के ढह जाने के बाद वह वास्तव में शिखर से खाई में जा गिरा! उसके पहले उसका औद्योगिक कृषि उत्पादन संसार में सबसे उच्च स्तर का था। उसमें प्रति हेक्टेयर कैलिफोर्निया से भी ज्यादा रसायनों और मशीनों का उपयोग होता था और फिर जैसे रातों–रात ये सारे संसाधन विलुप्त हो गए। 1889 में जहाँ औसत खाद्यान्न खपत 2600 कैलोरी की थी, वह 1993 में गिरकर भुखमरी के स्तर 1600 कैलोरी पर आ गई थी। क्यूबा के नष्ट होने की आसन्न सम्भावना से यू.एस.ए. बहुत खुश हो रहा था। लेकिन 1998 तक ही खाद्यान्न की खपत वापस 2600 कैलोरी पर पहुँच गई!! हमारे मतलब की दृष्टि से इस बात पर गौर करना महत्त्वपूर्ण है कि क्यूबा को किस–किस तरह के 'नए ज्ञान' की खोज करना पड़ी, तथा पुराने ज्ञान में संशोधन करना, उसे फिर से सीखना, अभिनव तरीके निकालना, और फिर इस सबको व्यावहारिक स्तर पर लागू करना पड़ा। इस सूची में फसलों के पुराने और नए चक्रों, सहयोगी फसलों, पास–पास दो फसलें साथ उगाना (इंटरक्रापिंग), मिट्टी के लिए जैविक पोषक तत्व, जैविक खादें, पौधों की रक्षा करने के लिए तमाम तरह के गैर–रासायनिक उपायों का इस्तेमाल करना, नए प्रकार के हलों को आजमाना और गैर–ईंधन वाले यांत्रिक उपकरणों का उपयोग करना जैसे उपाय भी शामिल थे। जुताई करने के लिए बैलों का इस्तेमाल कैसे किया जाए, यह सीखने के लिए 1997 में 2344 प्रशिक्षण हुए जिनमें 64,279 लोगों ने भाग लिया, क्योंकि 1990 में वहाँ सिर्फ 50,000 बैल थे। लेकिन वर्ष 2000 तक वहाँ 400,000 बैल हो गए। वहाँ शिक्षित युवाओं का शहरों से गाँवों की ओर विपरीत स्थानान्तरण होने लगा!

सार यह है कि ग्रामीण तथा शहरी, दोनों क्षेत्रों में भविष्य की नई तालीम की चुनौतियों में से एक यह है कि आयु–वर्ग के अनुरूप, किस प्रकार संसाधनों के प्रबन्धन की विभिन्न कार्य–गतिविधियों के माध्यम से केन्द्रीय विषयों के सीखने की प्रक्रिया को निर्मित किया जाए। कुछ शहरों में शहरी खेती खासी रफ्तार से बढ़ रही है; 2004 तक हवाना शहर 40 लाख टन फलों और सब्जियों का वार्षिक उत्पादन करने लगा था। सारे संसार में ऐसे अनुभवों की विशाल शृंखला है जिससे हम सीख सकते हैं। यदि उचित ढंग से पर्यावरणी–सम्बन्धी विज्ञान विषयों को सिखाया जाए तो उसके फलस्वरूप बनने वाली समझ, संसार भर के स्कूलों में पिछली एक सदी से पढ़ाए जाने वाले भौतिक और जीवशास्त्रीय विज्ञान विषयों की पढ़ाई से कम रोमांचक और लाभकारी नहीं होगी।

दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सवाल जिसका समाधान नई तालीम को करना है, वह निष्पक्षता और न्याय का है। चुनौती यह है कि इन मुद्दों को किस तरह आयु–वर्ग के लिए उपयुक्त और संवेदनशील ढंग से बार–बार उठाया जाए। खासतौर से जब प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन से जुड़े 'उत्पादक कार्य' का स्वरूप तय करना हो, तब भूमि के न्यायपूर्ण पुनर्वितरण के सवाल और व्यक्तिगत परिसम्पत्तियों से सामुदायिक सम्पत्तियों की ओर तथा साझा सार्वजनिक चारागाहों की ओर किए जाने वाले परिवर्तन ऐसे मुद्दे हैं जिनको नई तालीम के पाठों में समेकित किया जाना जरूरी है। इसके बिना नई तालीम निरर्थक होगी।

नई तालीम, विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय स्व–शासन

गाँधी जी ने विद्यार्थियों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के माध्यम से स्कूलों के वित्तीय रूप से आत्म–निर्भर होने की बात की थी। जैसा कि पूर्वानुमान लगाया जा सकता है, लगभग सभी ने इसके विभिन्न खतरों की बात करते हुए इसका विरोध किया था। लेकिन हो सकता है कि आज के सन्दर्भ में हम इस भावना को अपना कर इसकी पुनर्व्याख्या इस रूप में कर सकते हैं कि स्कूल सिर्फ ऐसे स्थान ही नहीं होते जहाँ विद्यार्थी शिक्षित होते हैं और आगे की पढ़ाई तथा प्रशिक्षण के लिए तैयार किए जाते हैं, बल्कि जहाँ उन्हें, अपने पाठ्यक्रम के हिस्से के रूप में, विभिन्न तरीकों से स्थानीय समाज में योगदान भी देना चाहिए और एक अर्थ में जितना उन्हें समाज से मिलता है उतना ही लौटाना भी चाहिए।

ग्रामीण इलाकों में, कक्षा 8, या कक्षा 10 या कक्षा 12 तक के स्कूलों के पास सबसे बड़ी अधोसंरचना (भवन आदि बुनियादी सुविधाएँ), बड़ी संख्या में शिक्षक और सबसे महत्त्वपूर्ण, सैकड़ों युवा होते हैं, जो इन स्कूलों में अपने दिन का एक बड़ा हिस्सा और अपने जीवन का एक बहुत सृजनात्मक हिस्सा बिताते हैं। अत: समुदाय और समाज को संसाधनों के इस विशाल भण्डार से और ज्यादा क्यों नहीं प्राप्त होना चाहिए?

मान लीजिए कि विकेन्द्रीकरण, सहभागिता–आधारित लोकतंत्र और सार्थक स्थानीय स्व–शासन की एक प्रबल लहर निर्मित हो जाती है। तब उसके लिए स्थानीय क्षेत्र नियोजन की जरूरत होगी, जिसके लिए आधार–रेखा सर्वेक्षणों, स्थानीय संसाधनों के सर्वेक्षणों, स्थानीय निगरानी व्यवस्था (जिसमें समय–समय पर सर्वेक्षण और प्रतिक्रियाएँ लेना (फीडबैक) आवश्यक होंगे) उसके प्रभाव का आकलन करने वाले सर्वेक्षण, संग्रहीत जानकारी तथा आँकड़ों का विश्लेषण और ऐसे आँकड़ों का इस्तेमाल किया जा सकने वाला प्रस्तुतीकरण आदि की आवश्यकता होगी। स्कूलों के विद्यार्थी और शिक्षक मिलकर ये कार्य अपने पाठ्यक्रम के समेकित अंगों के रूप में कर सकते हैं।

ऐसे कम से कम दो कारण हैं जिनकी वजह से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। पहला तो यह कि हम आज के भारत में चुने गए पंचायत सदस्यों में आमतौर पर ऊपर उल्लिखित क्षमताओं के होने की कल्पना नहीं कर सकते, और दूसरे, व्यवस्थित रूप से इस स्थानीय क्षेत्र नियोजन और उसके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक सभी कार्यों को करने के लिए उन सदस्यों की संख्या कभी भी पर्याप्त नहीं होगी। अकसर इसकी बात होती है कि स्थानीय शासन अपने क्षेत्रों में गुणवत्ता पूर्ण शिक्षा के बारे में क्या कर सकता है। हम इसी सवाल के चक्र को यह पूछकर पूरा कर रहे हैं कि गुणवत्ता पूर्ण स्थानीय प्रशासनिक और विकास कार्य के लिए एक स्कूल को क्या कर रहा होना चाहिए। और स्कूल तथा स्थानीय सरकार के बीच इस समन्वित सम्बन्ध को आज के सन्दर्भ में उत्कृष्ट नई तालीम की तरह परिभाषित किया जा सकता है।

आज नई तालीम में उत्पादक कार्य

आदर्श स्थिति में, नई तालीम के अन्तर्गत किए जाने वाले उत्पादक कार्य को निम्नांकित मापदण्डों में से यथासम्भव अधिक से अधिक को पूरा करना चाहिए :

यहाँ नीचे उन सम्भावित विषय–सूत्रों की सूची दी जा रही है जो आज की नई तालीम के सरोकार हो सकते हैं। यह किसी भी तरह से सम्पूर्ण सूची नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन विषयों के अन्तर्गत आने वाली ठीक–ठीक गतिविधियाँ उनके सन्दर्भ से जुड़ी हुई, अर्थात स्थानीयता की दृष्टि से विशिष्ट होंगी :

1. प्राकृतिक संसाधनों का प्रबन्धन एवं जैव–विविधता: दीर्घकालिक दृष्टि से टिकाऊ कृषि पद्धतियाँ, पेड़, पशुपालन, मछली–पालन, वनाधारित गतिविधियाँ
2. कृषि–उत्पाद प्रसंस्करण : खाद्य, रेशा, हस्तकलाएँ
3. ऊर्जा : जैविक, सौर, चूल्हा, हवा, विद्युत उपयोग की कार्यक्षमता
4. पानी और स्वच्छता : पानी का संग्रहण, भण्डारण, परीक्षण, शुद्धिकरण, बर्बादी, री–सायक्लिंग
5. कचरा : अलग–अलग करना, री–सायक्लिंग
6. स्वास्थ्य एवं पोषण : व्यक्तिगत स्वच्छता, खाना पकाना, कुपोषण, जड़ी–बूटियाँ
7. निर्माण : मिट्टी , बाँस
8. साइकिल और पैडिल शक्ति
9. स्थानीय (सामाजिक–आर्थिक) सर्वेक्षण : सभी तरह के अध्ययन जिनमें सरकारी योजनाओं की निगरानी भी शामिल होगी

आज नई तालीम को आगे कैसे बढ़ाया जाए

हाल के वर्षों में अनेक राज्यों ने कौशलों की योग्यताओं की नई बनाई गई राष्ट्रीय रूपरेखा (नेशनल स्किल्स क्वालिफिकेशंस फ्रेमवर्क) के अन्तर्गत कक्षा 9 से व्यावसायिक शिक्षा को पुन: आरम्भ करने की उत्सुकता दिखाई है। लेकिन जैसा कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा – 2005 में जोर देकर बार–बार स्पष्ट किया गया है, नई तालीम व्यावसायिक शिक्षा नहीं है : नई तालीम एकदम पहली कक्षा से ही सभी विषयों को पढ़ाने के लिए उत्पादक कार्य को प्रमुख शैक्षणिक औजार की तरह इस्तेमाल करती है, ताकि उसके परिणामस्वरूप दिमाग, हाथ और हृदय का सामंजस्य पूर्ण विकास हो। बिहार एकमात्र ऐसा राज्य है जिसने हाल ही में लगभग 390 नई तालीम स्कूलों को पुनर्जीवित करने का निर्णय लिया है।

इस अंक के विभिन्न लेख दर्शाते हैं कि पिछले दो दशकों में देश के अलग–अलग भागों में कुछ 'वैकल्पिक' स्कूलों ने अपने स्कूलों में या अपने शैक्षिक कार्य में उत्पादक कार्य को शामिल करने की कोशिश की है। यदि हम उपरोक्त विषय–सूत्रों को देखें, तो पाएँगे कि सारे भारत में ऐसे अनेक लोग और संगठन हैं जो इन विषयों पर काम कर रहे हैं और जिन्होंने वयस्क लोगों के साथ काम करते हुए उत्कृष्ट प्रतिरूप विकसित किए हैं, लेकिन कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर, उन्होंने उन प्रतिरूपों को अभी तक स्कूलों के विद्यार्थियों को सिखाने का प्रयास नहीं किया है। एक सम्भावित रणनीति ऐसे 'विकास के पेशेवर लोगों' और 'वैकल्पिक स्कूल शिक्षाविदों' को साथ लाने की हो सकती है। इसके अलावा, यदि कोई राज्य नई तालीम के साथ प्रयोग करने का निर्णय लेता है, तो इनमें से अनेक उसके लिए सम्भावित संसाधन संस्थान हो सकते हैं। एक छोटे प्रयास के रूप में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने स्वयं अपने 6 स्कूलों में कुछ प्रयास प्रारम्भ किए हैं।

जैसा कि इस लेख के आरम्भ में बताया गया था, यह आशंका फिर भी बनी रहती है कि यदि किसी स्कूल के आसपास का समुदाय पारम्परिक उद्योगवाद (जिसका प्रलोभन और आवेग अभी भी बहुत प्रबल है) के प्रति पूरी तरह से प्रतिबद्ध हो, तो फिर ऐसे स्थानीय स्कूल में नई तालीम को आजमाने की सार्थकता क्या है? क्या वह बच पाएगी? पर, जैसा कि मध्य प्रदेश के बड़वानी जिले के आधारशिला स्कूल के अमित कहते हैं, "ऐसे नई तालीम के प्रयोगों को उन समुदायों और क्षेत्रों में करके देखना बेहतर होगा जहाँ पहले से ही उद्योगवाद के विकल्प तलाशने और उन्हें आजमाने का जन आन्दोलन मौजूद है।"

सुजीत सिन्हा वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। उन्होंने 20 वर्षों से भी अधिक समय तक पश्चिम बंगाल में एक ग्रामीण विकास स्वयंसेवी संस्थान स्वनिर्वार में काम किया है। यह संस्थान शिक्षा, स्वास्थ्य, दीर्घकाल तक टिकाऊ खेती, स्व–सेवी समूहों तथा आदर्श पंचायतों के निर्माण जैसे कार्यों में संलग्न था। सुजीत की प्राथमिक रुचि गाँधी और टैगोर के शिक्षा–सम्बन्धी विचारों की पुनर्व्याख्या करना और उन्हें आज के और भविष्य के लिए प्रासंगिक बनाना है। उनसे sujit.sinha@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है।